

जैन दृष्टि में धर्म का स्वरूप

प्रो. सागरमल जैन

मानव प्रकृति: मनुष्य विश्व का श्रेष्ठतम प्राणी है, उससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं। फिर भी मानव अस्तित्व जटिल (Complex), विरोधाभास पूर्ण (Paradoxical) और बहु-आयामी (Multi-dimension) है। मनुष्य मात्र जैविक संरचना नहीं है, उसमें विवेकात्मक चेतना भी है। शरीर मात्र चेतना यह हमारे अस्तित्व के मुख्य दो पक्ष हैं। शरीर से वासना और चेतना का प्रस्फुटन होता है। मनुष्य की यह विवशता है कि उसे वासना और विवेक के इन दो स्तरों पर जीवन जीना होता है। उसके सामने शरीर अपनी मांग प्रस्तुत करता है, तो विवेक अपनी मांग प्रस्तुत करता है। एक और देहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होती है, तो दूसरी और विवेक द्वारा निर्धारित जीवन जीने के कुछ आदर्शों का परिखालन भी करना होता है। वासना और विवेक के संघर्ष को झेलना यही मानव की स्थिति है। यद्यपि जीवन जीने के लिए शारीरिक मांगों को पूर्णतः टुकराया नहीं जा सकता है, किन्तु एक विवेकशील प्राणी के रूप में मनुष्य का यह भी दायित्व बनता है, कि वह अन्ध वासना-चालित जीवन से ऊपर उठे। वासनात्मक आवेगों से मुक्ति पाना यही मानव-जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। जहाँ पशु का जीवन-व्यवहार पूर्णतः जैविक-वासनाओं से नियंत्रित होता है, वहाँ मनुष्य की यह विशेषता है कि वह विवेक के तत्व द्वारा अपने वासनात्मक जीवन पर भी नियंत्रण कर सकता है और इसी में मानवीय आत्मा में अनुस्यूत स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है। पशु का जीवन व्यवहार पूर्णतः प्रकृति के अन्धयान्त्रिक नियमों से चालित होता है, अतः वह परतन्त्र है, जब कि मनुष्य प्रकृति के यान्त्रिक नियमों से उपर उठकर जीवन जीने की क्षमता रखता है, अतः उसमें स्वतंत्रता या मुक्त होने को सम्भावना भी है। यही कारण है कि जहाँ पशु जीवन में विकास और पतन की सम्भावनाएं अत्यन्त सीमित होती हैं, वहाँ मनुष्य में विकास और पतन की अनन्त सम्भावनाएं हैं। वह विकास की दिशा में आगे बढ़े तो देवत्व से उपर उठ सकता है और पतन की दिशा में नीचे गिरे तो पशु से भी नीचे गिर सकता है। इसे जैन धर्म की भाषा में कहें तो मनुष्य ही विश्व में ऐसा प्राणी है, जो एक और आध्यात्मिक पतन के द्वारा नारकीय जीवन के निम्नतम स्तर (सप्तम नरक) को प्राप्त कर सकता है, तो दूसरी और आध्यात्मिक विकास के द्वारा मुक्ति के परम साध्य को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की इस आध्यात्मिक विकास यात्रा को धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है।

मानव की विकास यात्रा का सोपान: सामान्यतया आचार और व्यवहार के कुछ विधि-विधानों के परिपालन को धर्म कहा जाता है। धर्म हमें यह बताता है, कि यह करो और यह मत करो, किन्तु आचार के इन बाह्य नियमों के परिपालन मात्र को धर्म मान लेना भी एक भ्रान्ति ही है। आचार और व्यवहार के बाह्य नियम धर्म के शरीर तो अवश्य हैं, किन्तु वे धर्म की आत्मा नहीं हैं। धर्म की आत्मा तो उस विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि अथवा समता रूपी साध्य की उपलब्धि में निहित होती है, जो आचार और व्यवहार के इन स्थूल नियमों का मूल-हार्द है। यही विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि ही आचार-व्यवहार की उन मर्यादाओं एवं विधि-निषेधों की सृजक है, जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता और शांति के संस्थापक हैं और जिन्हें सामान्यतया धर्म या सदाचार के नाम से जाना जाता है।

मृत्यु के समय संत के दर्शन, संत का उपदेश और संघ का सानिध्य तो परम औषधि रूप होता है।

३१७

वैदिक एवं श्रमण धर्म-परम्पराएं और उनका वैशिष्ट्य: भारतीय धर्मों को मुख्य रूप से वैदिक और श्रमण इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। इस विभाजक का मूल आधार उनकी प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक जीवन दृष्टियां हैं, जो क्रमशः उनकी वासना और भावावेग जनित जैविक मूल्यों एवं विवेक जनित आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित हैं। सामान्यतया वैदिक धर्म को प्रवृत्तिमूलक और श्रमण धर्म को निवृत्तिमूलक कहा जाता है। यद्यपि आज वैदिक धर्म और श्रमण धर्मों की विविध जीवित परम्पराओं के बीच प्रवृत्ति और निवृत्ति के इन आधारों पर कोई विभाजक रेखा खींच पाना कठिन है, क्योंकि आज किसी भी धर्म-परम्परा या धर्म सम्प्रदाय को पूर्ण रूप से प्रवृत्तिमूलक या निवृत्तिमूलक नहीं कहा जा सकता है। जहाँ एक ओर वैदिक धर्म में औपनिषदिक चिन्तन के काल से ही निवृत्तिमूलक तत्त्व प्रविष्ट होने लगे और वैदिक कर्म-काण्ड, इहलौकिकवाद एवं भोगवादी जीवन-दृष्टि समालोचना का विषय बनी, वहीं दूसरी ओर श्रमण परम्पराओं में भी धर्म-संघों की स्थापना के साथ ही संघ और समाज व्यवस्था के रूप में कुछ प्रवृत्तिमूलक अवधारणाओं को स्वीकार किया गया और इस प्रकार लोककल्याण के पावन उद्देश्य को लेकर दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे के निकट आ गयीं।

जैन-जीवन दृष्टि:-

जैन धर्म की आचार परम्परा यद्यपि निवृत्तिमूलक जीवन-दृष्टि प्रधान है, परन्तु उसमें सामाजिक और ऐहिक जीवन-मूल्यों की पूर्ण उपेक्षा की गई हो, यह नहीं कहा जा सकता। उसमें भी जैविक एवं सामाजिक जीवन-मूल्यों को समुचित स्थान मिला है। फिर भी इतना निश्चित है कि जैन धर्म में जो प्रवृत्तिमूलक तत्त्व प्रविष्ट हुए हैं, उनके पीछे भी मूल लक्ष्य तो निवृत्ति या संन्यास ही है। निवृत्तिमूलक धर्म से यहाँ हमारा तात्पर्य उस धर्म से है जो सांसारिक जीवन और ऐन्द्रिक विषय-भोगों को गर्हणीय मानता है और जीवन के चरम् लक्ष्य के रूप में संन्यास और निर्वाण को स्वीकृत करता है। आज भी ये श्रमण परम्पराएं निर्वाण को ही परम् साध्य स्वीकृत करती हैं। आज संन्यास और निर्वाण को जीवन का साध्य माननेवाले श्रमण धर्मों में मुख्य रूप से जैन और बौद्ध धर्म ही जीवित हैं। यद्यपि आजीवक आदि कुछ अन्य श्रमण परम्परायें भी थीं, जो या तो काल के गर्भ में समाहित हो गयीं हैं या बृहद् हिन्दु धर्म का एक अंग बने गयीं हैं। अब उनका पृथक् अस्तित्व नहीं पाया जाता है।

जहां तक जैन धर्म का प्रश्न है, परम्परागत दृष्टि से यह इस कालचक्र में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित माना जाता है, ऋषभदेव प्रागऐतिहासिक काल के तीर्थंकर हैं। दुर्भाग्य से आज हमारे पास उनके सम्बन्ध में बहुत अधिक ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित ऋषभ की कुछ स्तुतियों और वातरसना मुनियों के उल्लेख से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक युग में कोई श्रमण या संन्यासमार्गी परम्परा प्रचलित थी जो सांसारिक विषय भोगों से निवृत्ति पर और तप तथा ध्यान साधना की पद्धति पर बल देती थी। इसी निवृत्तिमार्गी परम्परा का अग्रिम विकास एक ओर वैदिक धारा के साथ समन्वय एवं समायोजन करते हुए औपनिषदिक धारा के रूप में तथा दूसरी ओर स्वतंत्र रूप में यात्रा करते हुए जैन (निर्ग्रन्थ) बौद्ध एवं आजीवक आदि अन्य श्रमण परम्पराओं के रूप में हुआ।

आज यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि कोई भी धर्म परम्परा पूर्ण रूप से निवृत्ति प्रधान या प्रवृत्ति प्रधान होकर जीवित रह सकती है। वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में एकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यावहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा

जब तक शरीर के साथ योजित होकर जीवन जीती है, तब तक एकान्त प्रवृत्ति और एकान्त निवृत्ति की बात करना समुचित नहीं है। यद्यपि जैन परम्परा को हम निवृत्ति मार्गी परम्परा कहते हैं, किन्तु उसे भी एकान्त रूप से निवृत्ति प्रधान मानना, एक भ्रांति ही होगी। यद्यपि जैन धर्म के आचार ग्रन्थों में प्रमुख रूप से निवृत्ति मार्ग की चर्चा देखी जाती है, किन्तु उनमें भी अनेक संदर्भ ऐसे हैं। जहाँ निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच एक संतुलन बनाने का प्रयास किया गया है। अतः जो विचारक जैन धर्म को एकांत रूप से निवृत्तिपरक मानकर उसके धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध सामाजिक और व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुतः अज्ञान में ही जीते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जैन आचार्यों ने तप और त्याग पर अधिक बल दिया है, किन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि व्यक्ति अपनी वासनाओं से ऊपर उठे। जैन-आचार्यों ने जितना भी उपदेशात्मक और वैराग्य-प्रधान साहित्य निर्मित किया है, उसका लक्ष्य मनुष्य को वासनात्मक जीवन से ऊपर उठाकर उसका आध्यात्मिक विकास करना है उनकी दृष्टि में धर्म और साधना व्यक्ति के आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए है और अध्यात्म का अर्थ है वासनाओं पर विवेक का शासन। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई धर्म या साधना-पद्धति जैविक और सामाजिक जीवन-मूल्यों की पूर्णतः उपेक्षा नहीं कर सकती है, क्योंकि यही वह आधार भूमि है जहां से आध्यात्मिक विकास यात्रा आरम्भ की जा सकती है। जैनों के अनुसार धर्म और अध्यात्म का कल्पवृक्ष समाज और जीवन के आंगन में ही विकसित होता है। धार्मिक होने के लिये सामाजिक होना आवश्यक है। जैन धर्म में जिन-कल्प और स्थविर-कल्प के रूप में जिन दो आचार मार्गों का प्रतिपादन है, उनमें स्थविर-कल्प, जो जन-साधारण के लिए है, समाज जीवन या संघीय जीवन में रहकर ही साधना करने की अनुशंसा करता है।

वस्तुतः समाज-जीवन या संघीय-जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुमेल है। समाज जीवन भी त्याग के बल पर ही खड़ा होता है। जब व्यापक हितों के लिये क्षुद्र स्वार्थों के विसर्जन की भावना बलवती होती है, तभी समाज खड़ा होता है। अतः समाज-जीवन या संघीय-जीवन में सजन और विसर्जन तथा राग और विराग का सुन्दर समन्वय है। जिसे आज हम “धर्म” कहते हैं वह भी पूर्णतः निजी या वैयक्तिक साधना नहीं है। उसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ स्वस्थ समाज का निर्माण भी अनुस्यूत है।

जैन आगमों में धर्म का स्वरूप: धर्म की विभिन्न व्याख्याएं और परिभाषाएं दी गई हैं। पूर्व-पश्चिम के विद्वानों ने धर्म को विविध रूपों में देखने और समझने का प्रयत्न किया है। सामान्यतया आचार और विचार की एक विशिष्ट प्रणाली को धर्म कहा जाता है किन्तु जहां तक जैन परम्परा का प्रश्न है, उसमें धर्म को स्व-स्वरूप की उपलब्धि के अथवा आध्यात्मिक विकास के एक साधन के रूप में माना गया है। जैनाचार्यों ने धर्म की अनेक परिभाषा प्रस्तुत की है, उनमें एक परिभाषा “वत्थसहावों धम्मो” के रूप में की है। जब हम यह कहते हैं कि आग का धर्म उष्णता और जल का धर्म शीतलता है तो यहां धर्म से तात्पर्य उनके स्वभाव से ही होता है। यद्यपि वस्तु-स्वभाव के रूप में धर्म की यह परिभाषा सत्य और प्रामाणिक है, किन्तु इससे धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट दिशा निर्देश नहीं मिलता है। वस्तुतः, जब हम धर्म की व्याख्या वस्तु-स्वभाव के रूप में करते हैं, तो हमारे सामने मूल प्रश्न मनुष्य के मूल स्वभाव के सम्बन्ध में ही उत्पन्न होता है। मनुष्य एक चेतन प्राणी है और एक चेतन १) धम्मोवत्थु तहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो। रणयत्तयं च धम्मो जावाणां रक्खनं धम्मो॥ बारस्व अणुवेक्खा। कर्तिकय।

कर्तव्य के प्रति निष्ठा जहां दृढ़ होती है, वहां मन में उत्साह की औढ़ में नैराश्य आता ही नहीं है।

३१९

प्राणी के रूप में उसका धर्म या स्वभाव चैतसिक समत्व की उपलब्धि है। यहां चैतसिक समत्व का तात्पर्य विभिन्न अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूतियों में चेतना के स्तर पर अविचलित रहना है। दूसरों शब्दों में समत्व का अर्थ ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित रहना है। वस्तुतः यह राग और द्वेष के तत्व हमारी चेतना के समत्व को विचलित करते हैं अतः राग-द्वेष जन्य विक्षोभों से रहित चेतना की समभाव में अवस्थिति ही उसका स्व-स्वभाव है और यही धर्म है।

वैयक्तिक धर्म: समता: व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में आत्म स्वभाव की चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है कि आत्मा क्या है और उसका साध्य या लक्ष्य क्या है? जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपने उत्तर में कहा है कि आत्मा समत्व रूप है और उस समत्व को प्राप्त कर लेना यही उसका लक्ष्य है।^१ आचारांग सूत्र में इसी दृष्टिकोण के आधार पर धर्म को समता के रूप में परिभाषित किया गया है। उसमें कहा गया है कि “आर्यजनों ने समभाव में धर्म कहा है,”^२ वस्तुतः समभाव के रूप में धर्म की यह परिभाषा धर्म की स्वभाव परक परिभाषा से भिन्न नहीं है। मानवीय एवं प्राणी प्रकृति यही है कि वह सदैव ही तनावों से रहित समत्व की स्थिति को पाना चाहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वे सभी तथ्य, जो चेतना के इस समत्व को भंग करते हैं, विकार, विभाव या अधर्म हैं, इसके विपरीत जीवन व्यवहार के वे सभी तथ्य जिनसे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता की स्थापना होती है धर्म कहा जा सकते हैं। जब हम धर्म को वैयक्तिक दृष्टि से परिभाषित करना चाहते हैं। तो उसे निश्चय ही समभाव के रूप में परिभाषित करना होगा। संक्षेप में कहें तो समता धर्म है और ममता अधर्म या पाप है, क्योंकि समता के द्वारा आत्मा समाधि या शांति की स्थिति में होता है और यही उसकी अविकारी अवस्था या स्वभाव-दशा है। जबकि ममता के कारण वह तनाव एवं मानसिक असंतुलन से ग्रस्त होता है, अतः ममता विकारी अवस्था या विभाव-दशा है।

सामाजिक धर्म: अहिंसा: वैयक्तिक ममता के ये तत्व, जब बाह्य रूप में अभिव्यक्त होकर हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं, तो वे हिंसा और संघर्ष को जन्म देते हैं। ममता के कारण अधिकांश आधिपत्य, संग्रह और शोषण की वृत्तियों का उदय होता है। व्यक्ति अपने और पराये की दीवारें खींचता है, जिसके परिणामतः समाज-जीवन में संघर्ष और हिंसा का जन्म होता है और इन्हीं संघर्षों और हिंसक व्यवहारों के कारण सामाजिक जीवन का समत्व या सामाजिक शांति भंग हो जाती है। आचारांग सूत्र में इसी सामाजिक जीवन-व्यवहार के दृष्टिकोण के आधार पर धर्म की एक दूसरी परिभाषा भी दी गई है, उसमें कहा गया है कि “भूतकाल में जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमान में हैं अथवा भविष्य में होंगे वे सब यह प्रज्ञापित करते हैं अथवा व्याख्यायित करते हैं कि किसी प्राण, भूत जीव या सत्त्व को पीडा नहीं देना चाहिए, उनका घात न्हीं करना चाहिए, उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। यही शाश्वत् शुद्ध एवं नित्य धर्म है।^३

१) आया सामाङ्ग, सानाङ्गस्स अङ्गुटे। व्यख्यापज्ञप्ति

२) समयारा धम्मे आरिएहिं पवेइए। - आचारांग १/५/३/१५७ (च० पृ० ३०)

३) से बेमि-जेय अतीता जे य पडप्पणा जे य आगमेस्मा अरहंता भगवंता सव्वे त एमंवाइक्खंति, एवं भासेंति, एवं पणवेति, एवं पति-सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ताण हंतव्वा ग अज्जावेयव्वा ण परिधेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उछेवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते, समेच्च लोग खेतनेहिं पवेविते।

आचारांग १/४/१३१-१३२/(च०पृ० ३३)

सूत्रकृतांग २/१/६८० (च०पृ० २१६)

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जैन आचार शास्त्रीय ग्रन्थों में वैयक्तिक दृष्टि से समता और सामाजिक दृष्टि से अहिंसा को धर्म कहा गया है।

धर्म सदाचार या सद्गुण के रूप में: प्रकारांतर से अर्धमागधी और शौरसेनी जैन आगम साहित्य में क्षमा, सरलता, निर्लोभता, सत्यता, संयम आदि को भी धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है।

१ आचारांग में क्षमा आदि सद्गुणों को धर्म कहा गया है।^५

२ स्थानांग में क्षमा, अलोभ, सरलता, मृदुलता, लघुत्व, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास आदि धर्म के १० रूप प्रतिपादित किए गये हैं।^६

३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी क्षमादि दस सद्गुणों को दसविध-धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है।^७

वस्तुतः यह धर्म की सद्गुणपरक या नैतिक परिभाषा है। वे सभी सद्गुण जो सामाजिक समता को बनाए रखते हैं सामाजिक समत्व के संस्थापन से धर्म कहे गए हैं। क्षमादि इन सद्गुणों की विशेषता यह है कि ये वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवन में समत्व या शांति संस्थापन करते हैं।

वस्तुतः धर्म की इस व्याख्या को संक्षेप में हम यह कह कर प्रकट कर सकते हैं कि सद्गुण का आचरण या सदाचरण ही धर्म है और दुर्गुण का आचरण या दुराचरण ही अधर्म है। इस प्रकार जैन आचार्यों ने धर्म और नीति अथवा धर्म और सद्गुण में तादात्म्य स्थापित किया है, उनके अनुसार धर्म और अनैतिक जीवन सहगामी नहीं हो सकते। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले के अनुसार भी वह धर्म जो अनैतिकता का सहगामी है वस्तुतः धर्म नहीं अधर्म है।

धर्म: जिनाज्ञा का पालन: आचारांग में धर्म की एक अन्य परिभाषा हमें इस रूप में मिलती है कि आज्ञा पालन में धर्म है। तीर्थंकर या वीतराग पुरुषों के आदेशों का पालन ही धर्म है। आचारांग में महावीर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मानवों के लिये मेरा निर्देश है कि मेरी आज्ञा का पालन करना ही धर्म है।^८ यहां आज्ञा-पालन का तात्पर्य सद्गुणों को जीवन में अपनाना है। यही धर्म का व्यवहारिक पक्ष है। आचारांग में उपलब्ध धर्म की यह परिभाषा हमें मीमांसा दर्शन में उपलब्ध धर्म की उस परिभाषा की स्मृति दिला देती है जहां धर्म को

५) आचारांग १/६१५

६) दसविदे समण धम्मं पारणत्ते तं जहाँ —

खंति, मुक्ति, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजये, तवे, चिचाए, बंभचेरवासे।

स्थानांग १०/७१२/(च० पृ० ३१)

सातव्य है कि आचारांग १/६/५, समवायांग १०/१, बारस्स अणुवेक्सा, तत्त्वार्थ १/६ आदी में इनका उल्लेख है यदापी आचारांग और स्थानांग की सूचीमें कुछ नाम भेद है। वैदिक परम्परा में मनुस्मृति १०/६३, ६/९२, महाभारत आदि पर्व ६०/१५, में भी कुछ नाम भेद के साथ इनके उल्लेख है। श्रीमद्भागवत् में ४/४९ धर्म की पत्नियों एवं पुत्रों के रूप में सद्गुणों का उल्लेख है।

७) बारस्सअणुवेक्खा/ (कार्तिकेय) /४७८

८) आणाए मामगं धम्मं-एस उत्तरवादे इह माणवाणं वियाहिए।

— आचारांग १/०/२/१८५ (च.पृ. ३०)

कर्म की सत्ता (प्रभाव) किसे नहीं भोगनी पड़ी है ?

३२१



चोदना (प्रेरणा) लक्षण कहकर परिभाषित किया गया है और जिनके अनुसार वेद विहित विधानों के पालन को धर्म कहा गया है।

धर्म सामाजिक-दायित्व का निर्वहन: स्थानांग सूत्र में धर्म की व्याख्या के एक अन्य सन्दर्भ में राष्ट्र धर्म, नगर धर्म, ग्राम धर्म, कुल धर्म, गण धर्म आदि का भी उल्लेख हुआ है। १०

यहाँ धर्म का तात्पर्य राष्ट्र, ग्राम, नगर, कुल, गण आदि के प्रति हमारे जो कर्तव्य या दायित्व है, उनके परिपालन से है। इन धर्मों के प्रतिपालन का उद्देश्य व्यक्ति को अच्छा नागरिक बनाना है, ताकि सामाजिक और पारिवारिक जीवन के संघर्षों और तनावों को कम किया जा सके तथा वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी शांति और समता की स्थापना की जा सके।

धर्म की विविध परिभाषाओं में पारस्परिक सामंजस्य:

जैन परम्परा में उपलब्ध धर्म की इन विविध परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आचार्यों ने धर्म को कभी भी रूढ़ि या विशिष्ट प्रकार के कर्म-काण्डों के परिपालन के रूप में नहीं देखा है। उनकी दृष्टि में धार्मिक साधना का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के चैतसिक जीवन में उपस्थित पाशविक वासनाओं एवं उन कषायजन्य आवेगों का परिशोधन कर उसकी आध्यात्मिक चेतना को समत्व शांति या समाधि की दिशा में अग्रसर करना है। यद्यपि जैन धर्म में साधना और उपासना की विशिष्ट पद्धतियाँ अनुशंसित हैं फिर भी उन सबका तात्पर्य व्यक्ति की प्रसुप्त चेतना को जागृत कर उसे अपनी आध्यात्मिक दुर्बलताओं का बोध कराना है तथा यह दिखाना है कि उसकी आवेगजन्य तनावपूर्ण चैतसिक स्थिति के कारण क्या है? और उन कारणों का निराकरण कर किस प्रकार आध्यात्मिक शुद्ध स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है? जब स्थानांगसूत्र में धर्म का क्षमा आदि सदगुणों से जो तादात्म्य बताया गया है, तो उसका तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति इन गुणों को अपने जीवन में अपना कर चैतसिक समत्व या शांति का अनुभव करता हुआ अपनी आध्यात्मिक विकास-यात्रा या स्वरूप की उपलब्धि की दिशा में आगे बढ़ सके।

वस्तुतः इन सदगुणों की साधना का तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति की वासनाएं और मानसिक तनाव कम हो और वह अपनी शुद्ध, स्वाभाविक तनाव-रहित एवं शांत आत्मदशा की अनुभूति कर सके। यदि हम संक्षेप में कहें तो जैन दृष्टि से धर्म विभाव से स्वभाव की ओर यात्रा है। कषाय और दुर्गुण या दुष्प्रवृत्तियाँ मनुष्य की विभाव दशा अथवा पर-परिणति की सूचक हैं, क्योंकि ये पर के निमित्त से होती हैं। इनकी उपस्थिति में व्यक्ति मानसिक तनावों से युक्त होकर जीवन जीता है तथा उसकी आध्यात्मिक शांति और आध्यात्मिक समता भंग हो जाती है। अतः कषायों के निराकरण के द्वारा व्यक्ति की खोई हुई आध्यात्मिक शक्ति को पुनः प्राप्त करना अथवा समत्व दशा या स्वभाव में स्थित होना यही धर्म का मूल उद्देश्य है। कोई भी धार्मिक साधना पद्धति या आराधना यदि उसे विभाव से स्वभाव की ओर, ममता से समता की ओर, मानसिक आवेगों और तनावों से आध्यात्मिक शांति की ओर ले जाती है तो वह सार्थक कही जा सकती है, अन्यथा वह निरर्थक होती है। क्योंकि जो आचरण

१) मीमांसा सूत्र १/१/२.

१०) दसविहे धम्मे पणत्ते तं जहां -

गामधम्मे, नयर धम्मे, रट्ठधम्मे, पंखंड धम्मे, फुलधम्मे, गणधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।



३२२ इसी प्रकार जब अशुभ कर्मों का उदयकाल होता है तब मानव धारण कीये हुए कार्यों को करने से चूक जाता है, भिर जाता है।

वैयक्तिक या सामाजिक समता को भंग करता है वह धर्म नहीं अधर्म ही है। इसके विपरीत जो आचरण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता या शान्ति लाता है, वह धर्म है।

जब हम धर्म को वीतराग प्रभु के प्रति अनन्य आस्था या उनके आदेशों के पालन के रूप में देखते हैं तो वह समत्व संस्थापनरूप अपने उस मूल स्वरूप से भिन्न नहीं होता है। वस्तुतः वे सभी साधक जो बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अग्रिम कक्षाओं में स्थित नहीं हैं, अथवा जिनको धर्म और अधर्म की सम्यक् समझ नहीं है, उनके लिए उपादेय यही है कि वे उन लोगों के जीवन और उपदेशों का अनुसरण करें, जिन्होंने मानसिक आवेगों, वासनाओं और कषायों से अर्थात् विभाव दशा से उपर उठकर आध्यात्मिक समता अथवा वीतरागदशा का अनुभव किया है। जिस प्रकार दैहिक विकृतियों से छुटकारा पाने के लिए वैद्य के आदेशों और निर्देशों का पालन उपयोगी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक कमियों से छुटकारा पाने के लिये वीतराग प्रभु के आदेशों का पालन और जीवनादर्शों का अनुसरण करना आवश्यक है। क्योंकि धर्म साधना भी चैतन्य विकृतियों की चिकित्सा ही है। यदि व्यक्ति स्वयं इतना समर्थ है कि वह अपनी विकृति (रोग) को स्वयं जानकर चिकित्सा द्वारा उस विकृति का उपशमन या निरसन कर सकता है, तो उसे अधिकार है कि वह अपना मार्ग स्वयं बनाये और उस पर चले, उसे गुरु, मार्ग-दर्शक या धर्मोपदेश की आवश्यकता नहीं है, उसके लिये यह जरूरी नहीं है, कि वह दूसरे के उपदेशों और आदेशों का पालन करें। ऐसा साधक स्वयं-सम्बुद्ध या प्रत्येक-बुद्ध होता है-। किन्तु सभी व्यक्तियों में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती है कि वे अपनी आध्यात्मिक विकृतियों को स्वयं जानकर उनके कारणों का निदान और निराकरण कर सकें। ऐसे साधकों के लिये गुरु, तीर्थकर अथवा वीतराग पुरुष के आदेश और निर्देश का पालन आवश्यक है। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य में रखकर आगम में यह कहा गया है कि तीर्थकर के आदेशों का पालन ही धर्म है।

यद्यपि जैन धर्म इस अर्थ में अनीश्वरवादी धर्म है कि वह विश्व के सृष्टा और नियन्ता के अर्थ में ईश्वर को स्वीकार नहीं करता है। अतः उसकी आस्था का केन्द्र और मार्ग निर्देशक विश्व-नियन्ता ईश्वर नहीं, अपितु वह वीतराग परमात्मा है, जिसने अपनी साधना के द्वारा राग-द्वेष जन्य आवेगों एवं आत्म-विकारों पर विजय प्राप्त कर समभाव युक्त शुद्धात्मदशा परमशांति या समाधि को उपलब्ध कर लिया है। जैन धर्म में तीर्थकर आदेशों का पालन या उसके प्रति श्रद्धा या भक्ति का प्रदर्शन इसलिये नहीं किया जाता है कि वह प्रसन्न होकर हमें दुःख या अपूर्णता से मुक्ति दिलायेगा अथवा संकट की घड़ी में हमारी सहायता के लिए दौड़ा हुआ चला आयेगा, अपितु इसलिये किया जाता है कि उसके माध्यम से हम अपने शुद्ध स्वरूप का बोध कर सकें। उसके आदेशों का पालन इसलिए करना है कि सुयोग्य चिकित्सक की भांति उसके निर्देशों का पालन करने से या उसके जीवनादर्शों का अनुसरण करने से हम आत्म-विकारों का उपशमन कर शुद्धात्मदशा को प्राप्त कर सकेंगे।

अतः धर्म को चाहे वस्तु स्वभाव के रूप में परिभाषित किया जाये, चाहे समता या अहिंसा के रूप में परिभाषित किया जाये, चाहे हम उसे जिन आज्ञा-पालन के रूप में व्याख्यायित करें, उसका मूल हार्द यही है कि वह विभाव से स्वभाव की ओर जाता है। वह आत्मशुद्धि अर्थात् वासना परिष्कार की दिशा में सम्यक् संचरण है। अतः धर्म और सदाचारण भिन्न नहीं है। यही कारण है कि स्थानांग की टीका में आचार्य अभयदेव ने और प्रवचन सार में आचार्य कुन्द-कुन्द ने चारित्र को भी धर्म का लक्षण माना है।^(११)

११) (अ) स्थानांग टीका ४/३/३२०. (ख) प्रवचनसार १/७.

तन-मन और प्राण की एकाग्रता से जो साधक साधना करता है उसे जगत में कोई वस्तु अप्राप्य वस्तु नहीं है।

३२३

जैनाचार्यों ने आगम साहित्य की विषय-वस्तु का जिन चार अनुयोगों में विभाजन किया है, उनमें चरणकरणानुयोग ही ऐसा है जिसका सीधा सम्बन्ध धर्म साधना से है। धर्म मात्र ज्ञान नहीं अपितु जीवन शैली है। वह जानने की नहीं जीने की वस्तु है। धर्म वह है जो जिया जाता है। अतः धर्म सदाचरण या सम्यक् चरित्र का पालन है।

सामान्यतया जैन परम्परा में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक-चरित्र को रत्नत्रय के नाम से अभिहित किया गया है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य कार्तिकेय ने अपने ग्रन्थ 'बारसअणुवेक्खा' में रत्नत्रय की साधना को धर्म कहा है। वस्तुतः रत्नत्रय की साधना से भिन्न धर्म कुछ नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारे अस्तित्व का मूलकेन्द्र चेतना है और चेतना के तीन पक्ष हैं-ज्ञान, भाव (अनुभूति) और संकल्प। वस्तुतः रत्नत्रय की साधना अन्य कुछ नहीं, अपितु चेतना के इन तीनों पक्षों का परिशोधन है। क्योंकि सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, और सम्यक-चरित्र क्रमशः वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध करा कर ज्ञेय के प्रति हमारी आसक्ति या राग भाव को जुड़ने नहीं देता है और हमें ज्ञाता-द्रष्टा भाव या समभाव में स्थित रखता है। इस प्रकार हमारी चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्-ज्ञान भावात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्-दर्शन और संकल्पात्मक-पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक् चरित्र है। अतः रत्नत्रय की साधना अपने ही शुद्ध स्वरूप की साधना है, क्योंकि वह स्व स्वरूप में अवस्थिति के द्वारा समभाव और वीतरागता की उपलब्धि का कारण है।

● मानव के अंतर प्रदेश में वैराग्य का प्रकाश अनेक बार सहसा चमकता हैं। परन्तु यह प्रकाश यदि दुःख के प्रत्याघात के रूप में चमका हो तो दुःख का शमन होते ही वैराग्य भी शांत हो जाता हैं। कारण दुःख के प्रत्याघात से उत्पन्न वैराग्य मन को प्रभु के रंग में रंग नहीं सकता। वह तो मात्र वृत्ति यानि उपरी रंग से रंजित होता हैं। इसमें भी यदि किसी आत्मा को इस प्रसंग में सम्यग्ज्ञान दर्शन का सहारा मिल जाता है तो क्षणिक प्रकाश स्थिर भी बन सकता हैं।